

‘विजयिविजयम्’: जगन्नाथ-प्रणीत संस्कृत का एक अज्ञात नाटक

- प्रताप कुमार मिश्र:©

pratapm1977@gmail.com

सारसंक्षेपः

‘विजयिविजयम्’ संस्कृत-साहित्य का दुर्लभप्राय एक उच्चकोटिक नाटक जिसकी उपलब्धि 1986 में और प्रकाशन 2007 ई. में हुआ। यह महाभारत-कथाश्रित रूपक है। दुर्भाग्य से यह नाटक अपूर्ण ही प्राप्त और प्रकाशित हुआ है। जगन्नाथ हमारे लिए अज्ञात साहित्यकार हैं जिनका काल अभी तक प्रमाणित नहीं हो सका है। उच्चकोटिक नाटक होने के बावजूद नाट्यशास्त्रीय तथा रंगनिर्देशात्मक कई अशुद्धियाँ इस नाटक पर प्रश्नचिह्न भी उठाते हैं। प्रस्तुत शोधपत्र में जगन्नाथ के काल पर कुछ प्रामाणिक अन्तःसाक्ष्यों की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। नाटकीय गुण-दोषों को जानने के लिए नाटक का सांगोपांग अध्ययन कर कुछ विन्दुओं को पाठकों के समक्ष रखा गया है।

कीवर्ड्स- संस्कृत-नाटक, विजयिविजयम्, जगन्नाथ, नाटककार जगन्नाथ, त्रिविक्रमदेव।

‘विजयिविजयम्’ संस्कृत-साहित्य के इतिहास में सर्वथा अज्ञात, अनुपलब्ध तथा दुर्लभप्राय एक उच्चकोटिक नाटक है। महाभारतीय सभापर्व के विविध उपपर्वों की प्रसिद्ध कथा-वस्तु को एक आकार देकर इसकी कथावस्तु तैयार की गई है। 1986 ई. में गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद ने इस नाटक की एक प्रति वाराणसी के प्रसिद्ध पाण्डुलिपि व्यवसायी श्रीधनूराम यादव के संग्रह से क्रय की थी। दुर्भाग्य से यह प्रति अपूर्ण थी और पहले से चौथे अंक तक का पाठ ही उपलब्ध था। प्रारम्भ का पहला, सातवाँ एवं नौवाँ पत्र भी अनुपलब्ध था। इस कारण यह नाटक अपूर्ण ही प्रकाशित भी हुआ। 2007 ई. में डॉ. रामकिशोर झा ने ‘गैर्वाणीगौरवग्रन्थमाला’ के अन्तर्गत संख्या-23 के रूप में इसका सम्पादित संस्करण प्रकाशित कराया।¹ प्रकाशित संस्करण की भूमिका इस नाटक को समझने में अत्यधिक सहायक है।

चूँकि यह नाटक ही अपूर्ण प्राप्त हुआ था अतः सम्पादक को इसके सांगोपांग अध्ययन का सुअवसर प्राप्त नहीं हो सका। नाटक के अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर यथाकथमपि नाटककार के पिता और स्वयं नाटककार का नाम बताया जा सका है। नाटककार के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के सन्दर्भ में चूँकि इतिहास ही मौन है अतः इन विन्दुओं पर कोई प्रकाश नहीं पड़ सका। इस रूप में इस नाटक के रचनाकाल और रचनास्थान के सन्दर्भ में कुछ

© अखिल भारतीय मुस्लिम-संस्कृत संरक्षण एवं प्राच्य शोध संस्थान, भगवानपुर, लंका, वाराणसी-5.

1. गैर्वाणी-गौरव-ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक-23, संस्करण-2007 ई. राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थान (गंगानाथझा-परिसर), इलाहाबाद.

भी ज्ञात नहीं। नाट्यशास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से भी इसकी अपूर्णता वैसा अवसर नहीं देती जैसा कि किसी नाटक के अध्ययन में अपेक्षित होता है।

नाटक का अपूर्ण प्राप्त होना तो एक दुःखद संयोग है ही उससे भी दुःखद है इसके प्रतिलिपि-कार द्वारा अशुद्ध पाठ प्रस्तुत करना। कहना नहीं होगा प्रतिलिपि में अनेक अशुद्धियाँ रह गई हैं जिन्हें यथावत् प्रस्तुत करना सम्पादक की विवशता थी। लेकिन उपर्युक्त दोनों ही दुःखद संयोगों से अधिक दुःखद है स्वयं सम्पादन में मुद्रा-गत और प्रूफ की अशुद्धियों का रह जाना। जितनी अशुद्धियाँ प्रतिलिपिकार ने की होंगी उससे अधिक अशुद्धियाँ प्रूफ में रह गई हैं। और इस रूप में स्पष्ट कहें तो कोई ऐसा पृष्ठ, पद्य या संवाद नहीं जिनमें पाठ की, वर्तनी की, सांकेतिक चिह्नों की अशुद्धि न मिल जाए। किन्तु इन सबके बावजूद हमें सम्पादक तथा प्रकाशक के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए क्योंकि इस प्रकार के किसी विलुप्तप्राय नाटक का अन्वेषण और उसका प्रकाशन ही स्वयं में एक महत्वपूर्ण कार्य है।

प्रस्तुत आलेख में हम इस नाटक से सम्बन्धित एक सामान्य अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। नाट्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से पृथक्, यह अध्ययन इस नाटक की उन विशेषताओं को लक्ष्य करता है जिन पर इसका सम्पूर्ण काव्य या नाट्य-सौन्दर्य अवस्थित है। पूर्ववर्ती कवियों तथा नाटककारों का इस नाटक पर पड़े प्रभाव की संक्षिप्त चर्चा करते हुए अन्त में इस नाटक के सन्दर्भ में कुछ आलोचनात्मक अंश भी हैं जिनमें नाटक के अनुचित तथ्यों या पक्षों पर चर्चा की गई है।

नाटककार जगन्नाथ और उनका समय

‘विजयिविजयम्’ के कर्ता जगन्नाथ ने इस नाटक में अपने व्यक्तित्व या कृतित्व के सन्दर्भ में कोई सूत्र नहीं छोड़ा है, यह हम पहले की कह आए हैं। अपने विषय में मात्र दो पद्य उन्होंने प्रस्तुत किए हैं² -

सम्मूर्च्छदज्ञानतमो विवस्वान् साहित्यसंगीतकला-सरस्वान्।

यश्चातकीभूतनृपाम्बुवाहो धुरं हरिर्ज्ञानवतामुवाह।।

सुतस्तस्य जगन्नाथः काव्ये काव्य इवापरः।

यां निचिक्षेप सोऽस्मासु कृतिं तामलि दर्शये।।

और इन दोनों ही पद्यों के अनुसार - अज्ञान-रूपी अन्धकार को दूर करने में साक्षात् सूर्य, साहित्य-संगीत-कलाओं में समुद्र, चातकी-भूत राजाओं के लिए स्वाती-नक्षत्र के जलविन्दु और ज्ञानियों के बीच धुरी-स्थानीय हरि नाम के कोई विलक्षण आचार्य हुए। उन्हीं हरि के पुत्र जगन्नाथ, जो कि काव्य-जगत् में साक्षत् काव्य (शुक्राचार्य) के समान थे; -ने इस नाटक का निर्माण किया।’...

2. विजयिविजयम्, अंक-1, पद्य: 5-6, पृष्ठ-40.

इस प्रकार 'विजयिविजयम्' के कर्ता जगन्नाथ, हरि के पुत्र थे। इसके अलावा इनका कुल-गोत्र, स्थान-देश और काल क्या था ? इत्यादि प्रश्नों का कोई उत्तर इस नाटक के अन्तःसाक्ष्यों से प्राप्त नहीं किया जा सकता।

बहिःसाक्ष्य तो सर्वथा मौन हैं ही, जगन्नाथ के काल को लेकर अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर कुछ कहना तो और भी कठिन है। निश्चित रूप से नाटक में कहीं भी इस प्रकार की कोई सूचना या संकेत जगन्नाथ ने नहीं छोड़ा है जिससे हम उनके कृतित्व का काल अनुमानित कर सकें। या उस समय के आस-पास का कोई काल अनुमानित कर सकें। लेकिन यहाँ मैं जगन्नाथ के काल-निर्धारण हेतु एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संकेत की ओर अनुसन्धित्सुओं का ध्यान आकृष्ट करूँगा।

यह संकेत है नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार द्वारा नाटक की प्रस्तुति के सन्दर्भ में कुछ सूचनाएं। यह तो निर्विवाद है कि संस्कृत-रचनाधर्मी अपनी रचनाओं में 'स्व' को प्रस्तुत नहीं करते किन्तु 'स्व' तथा 'स्वीय' को 'प्रश्रय' या 'संरक्षण' देने वाले की प्रस्तुति में वे 'कृतघ्न' नहीं होते। दृश्यकाव्य-धर्मियों को इस प्रकार का सबसे उचित अवसर 'नान्दी' या 'प्रस्तावना' और 'भरतवाक्य' के अन्तर्गत प्राप्त होता है और बस यही वे स्थल हैं जहाँ इनके विषय में कुछ सूचनाएं मिल जाया करती हैं। जगन्नाथ भी यहीं सूचित होते हैं, जैसाकि उनका और उनके पिता का नाम यहीं उपलब्ध हुआ है जिसे उपर दिखलाया जा चुका है। लेकिन इस सन्दर्भ में एक तथ्य प्रकाशित संस्करण में, याने इसकी भूमिका में आश्चर्यजनक रूप से छूट गया है और यह सन्दर्भ है जगन्नाथ के आश्रयदाता की सूचना।

नान्दी-पाठ जो कि अनुपलब्ध है, के बाद सूत्रधार रंग-प्रयोग देखने वाले सामाजिकों को सम्बोधित करते हुए कहता है³ -

आः कथं प्रबोधिनीमहोत्सवः ! मिलदखिलविपुलाखण्डलमण्डलमधिश्रितसिंहासनमशेषदेशाऽगत-
गुणिगणाय निजनिजकलावलोकनप्रसादमर्थमानाय मनोरथातिथिपथप्रतोषफलभुवा भुवाऽनुज्ञातावसर इहैव
अनुद्वारवति त्रिविक्रमदेवसन्निधाववहितान्तरं तिष्ठति। तदहमपि तादृशं किञ्चिदभिनेतुमिच्छामि।

इस सम्बोधन का महत्त्वपूर्ण अंश है -

*'कथं प्रबोधिनीमहोत्सवः ..गुणिगणाय ..प्रसादमर्थमानाय भुवा अनुज्ञातावसरे इहैव त्रिविक्रमदेवसन्निधौ
अवहितान्तरं तिष्ठति।'*

और सम्भवतः इसका आशय है - 'इन्द्र के समान ओजस्वी राजाओं के समूह से घिरे और सिंहासन पर आरूढ, मनोरथ के अनुसार फल को उत्पन्न करने वाली भूमि के समान, अपने भौंहों से जिसने विविध देश से

3. विजयिविजयम्, अंक-1, प्रस्तावना-भाग, पृष्ठ-39.

आए और अपनी-अपनी कला के अवलोकन हेतु कृपा-प्रसाद का अभ्यर्थन करने वाले अगणित गुणियों के समूह को अवसर प्रदान किया है, ऐसे त्रिविक्रमदेव के द्वार पर यह प्रबोधिनी-महोत्सव साक्षात् उपस्थित हो आया है! और इस संकल्प-विकल्पात्मक सम्बोधन के बाद सूत्रधार अपने मन की बात प्रकट करता है, जो इस प्रकार है - 'तदहमपि तादृशं किञ्चिदभिनेतुमिच्छामि' अर्थात् 'तो मैं भी कुछ खास अभिनय प्रस्तुत करना चाहता हूँ।'

सूत्रधार के उपर्युक्त सम्बोधन में जो सबसे महत्वपूर्ण एवं विचारणीय विन्दु या पद है, वह है - 'त्रिविक्रमदेव' के रूप में प्रस्तुत संज्ञावाची शब्द। उपर्युक्त सम्बोधन में प्रयोग के आधार पर यह प्रकट नहीं होता कि नाटककार ने सूत्रधार के मुख से इस नाम से किसी राजा की सूचना दी है या किसी देवता की। अर्थात् यहाँ यह प्रकट नहीं होता कि 'त्रिविक्रमदेव' नामके कोई राजा थे या इस नामका कोई देवता। 'त्रिविक्रमदेवसन्निधौ' से दोनों प्रकार के अर्थ प्रतिभासित होते हैं, - 'महाराज त्रिविक्रमदेव के समीप अर्थात् द्वार पर' तथा 'भगवान् त्रिविक्रमदेव के प्रांगण में।' त्रिविक्रमदेव के लिए प्रयुक्त सभी विशेषण राजा के पक्ष में उतने ही समर्थ तथा सार्थक हैं जितने वे किसी देवता के सन्दर्भ में समर्थ तथा सार्थक हो सकते हैं। इस रूप में इन विशेषणों के व्याख्यान या विश्लेषण से हम किसी नतीजे पर नहीं पहुँच सकते।

यह स्मरण में रखने योग्य है कि अपनी रचना-प्रक्रिया की सम्पूर्णता के बाद संस्कृत-नाटकों का अभिनय प्राचीन भारत में प्रायः दो ही स्थानों पर हुआ करता था, या तो किसी राजा के दरबार में या फिर किसी मन्दिर या देवालय के प्रांगण में। इस रूप में 'विजयिविजयम्' भी 'त्रिविक्रमदेव' के प्रांगण या दरबार में अभिनीत हुआ। अब यह त्रिविक्रमदेव, राजा थे या देवता इस रहस्य को सुलझाना हमारे लिए कठिन कार्य है।

मैंने इस नाम को प्राचीन तथा मध्यकालीन भारत के इतिहास से सम्बन्धित दर्जनों कोश-ग्रन्थों में ढूँढा, कई भौगोलिक कोश देखे लेकिन त्रिविक्रमदेव के सन्दर्भ में कुछ भी हाथ नहीं लगा। यहाँ यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि यदि उपर्युक्त 'त्रिविक्रमदेव' कोई राजा हुए हों तो उनके स्थिति-काल निरूपण के आधार पर हम जगन्नाथ के काल को ज्ञात कर सकते हैं और यदि 'त्रिविक्रमदेव' किसी देवता का नाम हो तो हमें जगन्नाथ के काल-निर्धारण के अन्तिम बचे सूत्र से भी हाथ धोना पड़ सकता है। 'त्रिविक्रमदेव' चूँकि 'विष्णु' के अभिधान या विशेषण हुआ करते हैं और विष्णु-मन्दिरों की भरमार होने से इस ओर कोई सकारात्मक संकेत नहीं प्राप्त किये जा सकते।

एतिहासिक संस्कृत-शोध अनुसन्धान की प्रत्यक्ष धारा के विद्वान् और विद्यार्थियों से निवेदन है कि वे 'त्रिविक्रमदेव' नामा इन राजा या देवता के विषय में अधिकाधिक कार्य करें जिससे इस नाटककार के विषय में प्रामाणिक रूप से कुछ जाना और कहा जा सके।

जगन्नाथ के काल को संकेतित करने का दूसरा महत्वपूर्ण अन्तःसूत्र इस नाटक में उस समय प्राप्त होता है जब युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में विविध देशों से आए हुए राजाओं का परिचय कराया जाता है।⁴ इस प्रसंग में नाटककार ने समागत राजाओं के विविध देशों को चार दिग्-विभागों में बांट दिया है। इस दिग्-विभाग में 'प्रत्यन्तर-देशस्थ' 'म्लेच्छ-जातीय' राजाओं का विवरण निम्नवत् दिया गया है -

रूमश्यामफिरंगहूणहयवख्रोसारबम्लेच्छका-

प्रत्यक्स्थानतुरुष्कमुद्गलखुरासानाः खसाः सिन्धवः।

उच्चाः पुण्डपुलिन्दपूतिबशकाः येऽन्येम्बुधिद्वीपजाः

देशास्तत्पतयो प्रणाममतयस्तिष्ठन्ति बाह्यांगणे ॥2/47॥

इसमें आए हुए कुछ देश यद्यपि प्राचीन बृहत्तर-भारत के अन्तर्गत उपनिवेश आदि के रूप में समाहित रहे हैं किन्तु वर्तमान नामों के साथ यह देश मध्य-एशिया या एशिया-माइनर में मध्यकाल तथा उत्तर-मध्यकाल में प्रचलित रहे हैं। इनमें रूम, श्याम, हूण, हयव, ख्रोसार, म्लेच्छ, प्रत्यक्स्थान, तुरुष्क, मुद्गल⁵, खुरासान, खस, सिन्धु, उच्चा, पुण्ड, पुलिन्द, पूतिबशक हमारे नाटककार के काल-निर्धारण में कोई सहायता नहीं कर सकते किन्तु इन देशों के मध्य परिगणित 'फिरंग'-देश इस प्रसंग में ध्यातव्य है।

'फिरंग' नाम के देश के सन्दर्भ में यह ध्यान देने योग्य है कि 17 से 19 वीं शताब्दी तक 'अंग्रेजों' (ब्रिटिशर्स) के लिए भारतीयों द्वारा 'फिरंगी' शब्द का प्रयोग किया जाता था। इन फिरंगियों के निवास को ही यहाँ 'फिरंग'-देश के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कोश या सन्दर्भ-ग्रन्थों से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि 'फिरंग' नामका कोई देश नहीं। इस रूप में यदि हमारा प्राक्कलन ठीक हो तो यहाँ सीमान्त देशों के साथ जगन्नाथ ने जो 'फिरंग' नामक देश का उल्लेख किया है वह निश्चित ही 17 वीं शती में भारत आ चुके 'अंग्रेजों' से मुतअल्लिक है। अंग्रेजों का भारत में पदार्पण 1615 ई. के बाद से हो चुका था। इस रूप में देखें तो जगन्नाथ ने अपने इस नाटक की रचना 1600 ई. के बाद की होगी।

4. महाभारत > सभापर्व > राजसूय-यज्ञ के प्रसंग में समागत राजाओं को प्रस्तुत नहीं किया गया और न ही ऐसा कोई दिग्विभाग ही प्रस्तुत किया गया है, हाँ अर्जुन की विजय-यात्रा के क्रम में यह विभाग अवश्य प्राप्य है और जिन देशों पर अर्जुन ने विजय प्राप्त की उनमें कुछेक के नाम इस पद्य में आए हैं। शेष देशों के नाम; नामान्तर के साथ वहाँ आए हों ऐसा हो सकता है।
5. मुद्गल : (जिला-रायचूर, मैसूर) 1250 ई. में देवगिरि के प्रसिद्ध यादव-नरेशों का मुख्य नगर। कालान्तर में मुगल-साम्राज्य में मिला लिया गया। यहीं के गिरजा-घर में 'मेडोना' का प्राचीन चित्र सुरक्षित है। दक्षिण-भारत की एक प्रख्यात प्रेम-गाथा की नायिका 'पारथल' की जन्मभूमि यही मुद्गल-नगर था। (देखिए - एतिहासिक स्थानावली, पृष्ठ-751) निश्चित रूप से जगन्नाथ ने दक्षिण-भारत-स्थित इस 'मुद्गल' देश की चर्चा नहीं की है। सम्भव है उनका 'मुद्गल'-देश प्रारम्भिक मुगलों द्वारा शासित देशों से बाबस्ता हो।

यहाँ हम 'फिरंग' के सन्दर्भ में कुछ विस्तृत चर्चा करेंगे। कोश-ग्रन्थों में केवल 'हिन्दी विश्वकोश' ने इस शब्द पर विस्तृत चर्चा की है। इसके अनुसार इस शब्द का अर्थ - 'यूरोप के देश, 'गोरों का मुल्क, या 'फिरंगिस्तान' है। इस शब्द की उत्पत्ति और विकास को सूचित करते हुए यह कहा गया है कि - 'फ्रान्क' नामक जर्मन-जातियों का एक दल ईसा की तीसरी सदी में दक्षिण की ओर जाकर 'गाल' (फ्रान्स का पुराना नाम) से रोमक-राज्य को समाप्त कर वहाँ अपना प्रभुत्व स्थापित करता है। तभी से इसका नाम फ्रान्स पड़ा। 1096 से 1250 ईस्वी तक इन फ्रान्कों तथा मध्य यूरोप के ईसाइयों ने ईसामसीह की जन्मभूमि को तुर्कों से मुक्त करने को कई बार आक्रमण किए। 'फ्रान्क' शब्द का परिचय तभी से तुर्कों को हुआ और वे यूरोप से आने वालों को 'फिरंगी' कहने लगे। क्रमशः यह शब्द अरब, फारस आदि होता हुआ भारत में आया। भारत में सर्वप्रथम 'पुर्तगाल' आए अतः 'फिरंगी' का प्रयोग उन्हीं के लिए बहुत दिनों तक होता रहा। फिर यूरोपियन मात्र को फिरंगी कहा जाने लगा।⁶ यह कोश 'फिरंगी' नामक रोग की चर्चा भी करता है, जो बहुत मायनों में 'एड्स' से मिलता जुलता या वही है। 'भावप्रकाश' के साक्ष्यों से यह कहता है कि - 'फिरंगियों के भारत आने के बाद इस रोग का प्रचलन हुआ। यह फिरंग-देश की स्त्रियों के साथ सम्भोग करने से होता है। आदि इत्यादि।

अस्तु, साक्ष्यों के अभाव में हम जगन्नाथ के काल के सन्दर्भ में इससे अधिक कुछ नहीं कह सकते। नाटक के अन्तःसाक्ष्यों से जगन्नाथ के वैदुष्य आदि पर पर्याप्त सूचनाएं प्राप्त होती हैं। यहाँ हम उनके श्रोत्रिय होने तथा यज्ञ-यागादि सम्बद्ध दैनिक-चर्या वाले होने सम्बन्धी एक उल्लेख को प्रस्तुत करेंगे। अन्य सन्दर्भों को मूल नाटक से प्राप्त करना चाहिए।

इस नाटक के द्वितीय अंक, युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ प्रसंग में याज्ञिक प्रक्रियाओं का बड़ा विशद् वर्णन प्रस्तुत हुआ है। इस यज्ञ में ब्रह्मा स्वयं वेदव्यास, अध्वर्यु स्वयं याज्ञवल्क्य, साम-गायक स्वयं सुसामा, होता के रूप में पैंग्य, होत्रग व्यास के शिष्य तथा यज्ञ के आचार्य धौम्य ऋषि स्वयं थे -

ब्रह्मा व्यासोऽध्वर्युतां याज्ञवल्क्यो यातः साम्नां गायकोऽसौ सुसामा।

होता पैंग्यो होत्रगा व्यासशिष्याः याज्ञाचार्यं माम(मी)मा निर्दिशन्ति॥ 2/14

यज्ञ-प्रक्रिया के अन्तर्गत विविध विनियोगादि सम्पादन में अपनी-अपनी संहिता-शाखाओं, ब्राह्मणों से सम्बन्धित अन्यान्य सिद्धान्त परक मन्त्रों तथा कर्तव्याकर्तव्यों के प्रयोग में स्वशास्त्र-सम्मत वाद-विवाद अथवा शास्त्रार्थ यज्ञ-प्रक्रिया का एक मनोरम किन्तु बौद्धिक अंग रहा है। प्रारम्भिक याज्ञिक अनुष्ठानों में इस तरह के

6. हिन्दी विश्वकोश, भाग-15, पृष्ठ-90.

वाद-विवाद तथा शास्त्रार्थ निश्चित ही अत्यल्प होते होंगे किन्तु उत्तरोत्तर इस प्रकार के वाद-विवादों का प्रचलन बढ़ता गया। जगन्नाथ ने याज्ञिक अनुष्ठानों की अंगभूत इस प्रसंग-प्राप्त चर्या को बहुत ही सहजता से ग्रहण किया और उसे नाटकीय कथावस्तु में पिरोकर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर दिया है। निश्चित ही इस प्रकार के प्रस्तुतीकरण ने प्रवर्तमान व्यापार 'राजसूय-यज्ञ' को अपने समूचे आर्य-वैभव में प्रस्तुत होने का सुअवसर प्रदान किया है। इसे नाटककार की भाषा में देखिए –

‘प्रारम्भ में यह ऐसा हो, क्यों ऐसा क्यों हो, क्योंकि यह क्रम में ऐसे ही पढा या प्रयुक्त किया गया है, क्या कहा - कहाँ पढा गया है कहाँ प्रयुक्त किया गया है, यहाँ इस स्थान पर, -इस प्रकार ज्ञान-वृद्ध ऋषियों के परस्पर शास्त्रीय विवादों से उठता हुआ कोलाहल, मन्त्रों की ध्वनियाँ और चट-चट कर जलती हुए हविषों के स्वर मानो परस्पर एक होकर इस यज्ञ में देवताओं को बुलाने हेतु स्वर्ग गए’-

आदावेतदिदं ततः कथमिदं स्योदतदुक्तं क्रमे

कुत्रात्रेति परस्परेण विवदद्विज्ञानवृद्धाः रवैः।

मन्त्राणां ध्वनिभिस्तथा चटचटद्दह्यद्विनिःस्वनै-

रेकीभूय गतं त्रिविष्टपमिवाह्वातुं मखे देवताः॥ 2/15

2/16 में यज्ञ में आहूत देवताओं तथा 2/19-20 में यज्ञाहुतियों से प्रदीप्त अग्नि का वर्णन और इसी प्रकार यज्ञ की अन्यान्य प्रविधियों तथा याज्ञिक वातावरण आदि का बड़ा मनोरम वर्णन यहाँ प्रस्तुत हुआ है। नाटक में प्रसंग-प्राप्त इस विवरण से यह अनुमान करना कि नाटककार जगन्नाथ स्वयं श्रोत्रिय ब्राह्मण यज्ञ-यागादि में आस्था रखने वाले तथा नियमित यज्ञ-अनुष्ठाता रहे होंगे, सर्वथा असंगत नहीं होगा।

अब हम इस नाटक के कुछ विशिष्ट स्थल, सन्दर्भ, प्रसंग, संवाद आदि से सम्बन्धित कुछ टिप्पणियाँ प्रस्तुत करते हैं। इन टिप्पणियों से हमारा आशय इस नाटक की उन विशिष्टताओं को प्रकट करने से है जिनके आधार पर इसे संस्कृत के अन्य पारम्परिक नाटकों की श्रेणी में रखा जा सके और उनके समानान्तर इसकी महत्ता या हीनता का आकलन किया जा सके। अन्त में कुछ आलोचनात्मक टिप्पणियाँ भी प्रस्तुत हैं, जिनमें ‘नाटकीय आलोचना’ और ‘सम्पादकीय आलोचना’ के द्वारा इस नाटक और इसके प्रकाशित संस्करण के कमजोर पक्षों पर कुछ चर्चा की गई है –

1. तृतीय अंक के प्रारम्भ में प्रस्तुत हुए कंचुकी द्वारा वृद्धावस्था का बहुत ही सजीव और आकर्षक वर्णन बन पड़ा है। सौन्दर्यकाल की रजनी की में उठी हुई आन्धी, कामदेव-रूपी भैसे पर सवार कात्यायनी (कषाय-

वस्त्र धारिणी अधेड विधवा), मृत्यु की दूती और यमपुरी की फहराती पताका (झण्डा) यह जरा किसके मन को व्यथित नहीं कर देती -

सौन्दर्यकालरजनीबलमेघवात्या कात्यायनी कुसुमकार्मुककासरस्य।
दूतीर्मृतेर्यमपुरीप्रचलत्पताका केषां जरा तनुभृतां न मनो दुनोति॥ 3/1

जरा के इस वर्णन को पढते हुए महाकवि अश्वघोष का निम्नलिखित जरा-सम्बन्धी वर्णन स्मृति-पटल पर बरबस आ जाता है -

यथेक्षुरत्यन्तरसप्रपीडितो भुवि प्रदिग्धो दहनाय शुष्यति।
तथा जरायन्त्रनिपीडिता तनुः

जगन्नाथ ने वृद्धावस्था में उत्पन्न होने वाले शारीरिक-विकारों का बड़ा मनोरम और स्वाभाविक वर्णन प्रस्तुत किया है। चलने के कारण साँसों की गति में ही हृदय भी तेजी से चलने लगता है, हाथों में कंपकपी होती है, चलो तो पैर काँपते हैं, दाँतों के झड़ जाने से अपनी कही बात भी स्वयं को समझ नहीं पड़ती, मति-विभ्रम लगा रहता है -

चलति हृदयं श्वासोत्सिक्तं करौ पृथुवेपथू स्वलति गमने पादः सादस्तदुद्धरणे परम् ।
विदशनतया स्वेनैवोक्तं स्वयं न विबुध्यते भ्रमति च मतिः सेवाकर्मच्युतिर्न तथापि मे ॥ 3/2

लेकिन कहीं-कहीं यही बुढापा बड़े काम की वस्तु भी सिद्ध होती है, अब देखिए - आँखों से अन्धे, कानों से बहरे, मुख से गूँगा, नाकों से गन्ध लेने में अक्षम, किसी भी स्पर्श में जिसकी त्वचा असमर्थ है ऐसा बनाती हुई भी यह बुढापा मेरे लिए निन्दा की नहीं अपितु स्तुति का विषय है क्योंकि इन्हीं सब असमर्थताओं के कारण तो शुद्धान्त (राजाओं के रनिवास) में चाकरी की जा सकती है, अन्यथा कहाँ -

आन्ध्यं सददृशि सच्छ्रुतौ बधिरता वाक्पाटवे मूकता
गन्धग्राहकता सनस्यपि भृशं स्पर्शाज्ञता सत्वचि ।
शुद्धान्ताधिकृते नयच्च तरसा स्वस्मिन्समारोप्यते
कुर्वाणा सहजन्तु तन्मम जरा वन्द्या न निन्दास्पदम् ॥ 3/3

2. तृतीय अंक के प्रारम्भ में कंचुकी और चेटी के संवाद द्वारा युधिष्ठिर की अस्थिर-चित्तता की सूचना दी जाती है। राजा अपने मानसिक अस्थिरता को दूर करने अथवा मानसिक स्वास्थ्य-लाभ हेतु द्रौपदी से मिलना चाहता है। यह सुनकर चेटी आश्चर्यचकित हो पूछती है कि ऐसी अस्थिरता में महाराज स्त्री-जन को क्यों याद कर रहे? इस पर कंचुकी जो कारण प्रकट करता है उससे मानव-जीवन में पत्नी की महत्ता और उसकी

आवश्यकता पर बहुत ही मनोवैज्ञानिक विवरण प्रस्तुत हुआ है। पत्नी की यह महत्ता और उसकी आवश्यकता अपने मूल रूप में आज भी उतनी ही प्रतिष्ठत है जितनी कल थी और आगे भी रहेगी -

तरिर्नवीना विपदम्बुराशेर्विषाददावस्य घनाघनश्रीः।

द्विपल्लवी शर्ममहीरुहस्य कुटुम्बिनी कस्य न हन्ति चिन्ताम्॥3/5

3. तृतीय अंक में द्रौपदी द्वारा गौरी-अर्चन के अवसर पर विशुद्ध प्राकृत-भाषा में पढा गया स्तोत्र न केवल साहित्यिक महत्त्व का साक्षी है अगत्या प्राकृत-निबद्ध इस स्तोत्र ने नाटकीय घटना-चक्र में उलझे और एकरस सामाजिक तथा भावक को एक धार्मिक भावभूमि प्रदान कर कुछ समय के लिए उनका मनोविनोद भी अच्छा किया है। प्राकृत-निबद्ध यह स्तोत्र संगीत-तत्त्वों से भरा-पूरा है और इसकी रचना अष्टपदी की शैली में की गई है, जिसके कारण रंगमंच पर यथावत् गाए जाने पर यह आशातीत प्रभाव डाल सकती है। पाठकों की सुविधा के लिए इस अष्टपदी की दो-तीन पदियाँ प्रस्तुत की जाती हैं (प्रारम्भिक अंशों की संस्कृतच्छाया प्रस्तुत है, शेष प्राकृत-मूल में हैं) -

(अतिरतिरूपसुशोभिनि बल्लभमानसमोहिनि ए!

शम्भुसुवासिनि नमो नमो, गिरिसविलासिनि नमो नमो !!)

अदिरदिरूअ-सुसोहिणि बल्लहमाणसमोहिणि ए!

कम्मगव्वणवणणिच्चणिवासिणि

सम्भुसुवासिणि णमो णमो, गिरिसविलासिणि णमो णमो !!

विदुसेहरविद्धिविहणुमहामरदेहमहभभवदंगकले

अपदिमप्यबलह्यय किद हरिणादविवाकलिदजलहिजले !!

4. मानसिक-सन्ताप से पीडित राजा अपनी मानसिक विकलता का वर्णन करते हुए इसे मणि-महौषधि-मन्त्र और वीर्य द्वारा तो असाध्य बतलाता ही है, स्वयं विशिष्ट एवं प्रसिद्ध आयुर्वेद के आचार्यों द्वारा भी इसे असाध्य बतलाता है। इस क्रम में उसने आयुर्वेद के जिन आचार्यों का नाम लिया है उनमें 'सूर' तथा 'आश्विनेय' सर्वथा अप्रसिद्ध आचार्य हैं, जबकि 'चरक' विश्रुत आचार्य -

व्यर्थीभवन्मणिमहौषधिमन्त्रवीर्यः सूरश्विनेयचरकैरपि नोपवार्यः ।

आमूलतोऽपि परिशोषितसप्तधातुरन्तर्मुखो व्रण इवाधि०० भिनत्ति ॥ 3/10

5. 3/29 एवं इसके आगे विदुर से मिलने आते युधिष्ठिर के सैन्य-परिवार के वर्णन में सेना के विभाग पर नाटककार ने अच्छा विवरण दिया है। पदाति, अश्ववार, हस्तिसेना, चतुरंग आदि विभागों के वर्णन में कई

सेना-परक शब्द यथा, नासीर आदि का भी वर्णन यहाँ उपलब्ध है। सैन्य-विभाग का यह वर्णन नाटककार का तत्सम्बन्धी ज्ञान प्रकट करता है।

6. कौरवों द्वारा द्यूत-क्रीडा का आमन्त्रण देकर पाण्डवों को हस्तिनापुर बुलाए जाने और द्यूत की निन्दा करते हुए संजय चण्डान्तक को समझाते हैं कि क्यों जानते हुए भी युधिष्ठिर द्यूत के आमन्त्रण को स्वीकार करते हैं और कुत्सित परिणामों को उत्पन्न करने वाला होते हुए भी द्यूत-क्रीडा को क्यों महत्त्व देते हैं। यहाँ संजय ने द्यूत को धर्मशास्त्रीय मर्यादा की सीमा में और स्मृति-विहित विधान बतलाकर क्षत्रियों द्वारा अवश्य स्वीकर्तव्य द्यूत के प्रचलन पर उपलब्ध प्राचीन मान्यता का सामयिक प्रकाश डाला है –

‘वयस्य ! अत्र स्मृतिरुपालम्भनीया। यैवमाह -

उपहृतः परैः क्षत्री समराद्वा दुरोदरात् ।

कदापि न निवर्तेत धर्म एष सनातनः ॥ 4/4

7. चतुर्थ अंक में द्यूत का बड़ा मनोरम चित्र नाटककार ने प्रस्तुत किया है (पृ. 103-109)। द्यूत के प्रारम्भ होते ही शकुनि द्वारा द्यूत की स्तुति में कहा गया निम्नलिखित पद्य पाठकों को भुलाए नहीं भूलेगा। द्यूत की प्रशंसा शूद्रक ने भी अपने ‘मृच्छकटिकम्’ नामा प्रकरण में प्रस्तुत की है लेकिन जिस प्रकार जगन्नाथ ने ‘त्रयी’ के साथ ‘अक्ष’ का सामंजस्य बिठाया है और उसके छः अंगों एवं चार शास्त्रों के साथ उसकी एकरूपता सिद्ध की है, वह ‘मृच्छकटिकम्’ में दुर्लभ है –

अंगैः षड्भिः सम्परीता त्रयीयं चत्वार्येतानि शास्त्राणि सन्ति।

एभिः सर्वैर्यन्निरूप्यं तदेकं सत्यं त्वय्येवाक्ष तस्मान्नमस्ते॥ 4/10

8. शकुनि को युधिष्ठिर द्वारा ‘अक्षहृदयावेदि’ के रूप में दिया गया विशेषण शकुनि के द्यूत-क्रीडा पारंगत होने सम्बन्धी लोकप्रसिद्धि को बरबस मानस-पटल पर उकेर देता है। इस क्रम में शकुनि को उनके पिता के नाम से सम्बन्धित कर राजा का सम्बोधन (सुबल-सूनु) शकुनि के पिता (सुबल) का स्मरण भी करा देता है, जिससे एकबारगी पाठक प्राचीन राज-वंश के इतिहास के पृष्ठों पर पहुंच जाता है, नाटककार ने इस प्रकार के सम्बोधन अथवा साभिप्राय विशेषण कई स्थलों पर प्रस्तुत किये हैं।
9. युधिष्ठिर द्वारा अपनी समग्र सम्पत्ति हार जाने और शकुनि द्वारा पृथ्वी को दाँव पर लगाने सम्बन्धी उपाय बताने पर अकस्मात् नेपथ्य से धौम्य द्वारा इस अनर्थ को रोकने के सन्दर्भ में पढा गया पद्य बहुत उत्तेजक बन पड़ा है - ‘राजन् ! तुम जैसे कितने ही राजे-महाराजे आए और कितने तो अभी भी पृथ्वी पर वर्तमान हैं,

लेकिन कभी भी और किसी ने भी इस रत्नगर्भा पृथ्वी को दाँव पर लगाया हो ऐसा हमने न तो सुना है न देखा है। ऐसा अनर्थ न करो' -

राजन् पुराऽऽसन् कति न क्षितीशा न सन्ति वा भूवलये कियन्तः।
कदापि केनापि न रत्नगर्भा पणीकृताऽश्रावि दुरोदरेषु ॥ 4/31

लेकिन शकुनि की ललकार पर उत्तेजित युधिष्ठिर ने अन्ततोगत्वा पृथ्वी को भी दाँव पर लगा ही दिया -

या मान्धातूनलादिभिर्नृपतिभिश्चण्डांशुचण्डान्वय-
प्रोद्भूतैः प्रणयात्प्रियेव कुलजा संल्लालिता पालिता।
सूते रत्नकदम्बकानि च चिरं गान्धार तेऽभिप्सीता
सर्वस्वेन सहैव सा वसुमती द्यूते ग्लहोऽयं मम ॥ 4/33

10. द्यूत में प्रसिद्ध इस व्यवस्था की, कि - 'धन हो और किसी ने ललकारा हो तो द्यूत से भागना नहीं चाहिए' सम्बन्धी क्षत्रियों के लिए विहित नियम 'सति वित्ते समाहृतो न निवर्तेत..' अच्छी याद दिलाई है युधिष्ठिर ने (पृ.-109) और सभी भाइयों को दाँव पर लगाने के बाद एक-एक कर उन्हें हार भी गए।
11. द्रौपदी को दाँव पर लगाने के क्रम में युधिष्ठिर ने जो पद्य पढा है उससे भारतीय समाज में पत्नी या गृहिणी के महत्त्व की एक बार पुनः प्रतिष्ठा होती है, जबकि इस प्रकार की प्रतिष्ठा इससे पूर्व भी कंचुकी के पद्य में प्रस्तुत हुई थी। यहाँ पाण्डवों की दृष्टि में द्रौपदी के मूल्य का मूल्यांकन अच्छा बन पड़ा है -

वेला सौन्दर्यसिन्धोः प्रणयनिधिघटी सद्ग सौभाग्यलक्ष्म्याः
लावण्योकः पताका मदननरपतेः स्वर्णसिंहासनश्रीः।
सर्वावस्थासु मित्रं पतिपरिचरणैकव्रतामौलिरत्नं
सेयं प्राणाधिका मे द्रुपदनृपसुता स्थाप्यतेऽत्र ग्लहत्वे ॥ 4/50

यहाँ नाटककार ने द्यूत के कारण युधिष्ठिर के चित्त की उद्भ्रान्ति को तो प्रस्तुत किया ही है, स्वयं उन्हीं के द्वारा एक उदात्त मानवीय संवेदना अथवा मूल्य की रक्षा भी कराई है। यह वही मानवीय संवेदना या मूल्य है जिसकी हत्या स्वयं शकुनि तथा दुर्योधन ने द्रौपदी को पण रूप में स्थापित करने का उपाय सुझाकर की थी। युधिष्ठिर द्वारा द्रौपदी को पण रूप में प्रस्तुत करने पर और द्यूत के अनुबन्धों के अनुरूप 'पण के सदृश पण' परक सिद्धान्तों के सापेक्ष दुर्योधन द्वारा भानुमती को दाँव पर लगाता है -

मनस्विनीमण्डलमौलिमल्ली विश्रान्तिविश्राणनकल्पवल्ली।
या रेवतीगर्भनिधानभूता ममापि सा भानुमती पणोऽस्तु ॥ 4/51

और यँ भ्रातृवधू को दाँव पर रखा जाना सुन युधिष्ठिर कहते हैं -

‘शिव शिव नाहं प्रातिपण्यस्थापितां सृषामुररीकरोमि। किमन्येन प्रतिपणेनाहमेव भवदीयः प्रतिपणोऽस्मि। शकुने! निक्षिपाक्षान्।’ (पृष्ठ-112)

द्यूत की विपरीत परिस्थितियों में भी धर्मावतार युधिष्ठिर के चरित्र के अनुरूप यह प्रस्तुति नाटककार के चरित्र-विश्लेषण परक कला और चरित्र-परक सूक्ष्म दृष्टिकोण का श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करती है।

12. द्यूत में हारी द्रौपदी को सभा-मण्डप में लाने सम्बन्धी दुर्योधन के निर्देश पर जब दुःशासन अन्तःपुर जाता है तो द्रौपदी उसे अपने रजःस्वला होने और एक उत्तरीय मात्र धारित करने के कारण सभा-मण्डप में जाने से असमर्थ बताती है। सभा-मण्डप में द्रौपदी द्वारा स्वयं न जाने सम्बन्धी इस इतिहास-प्रसिद्ध कारण को उपस्थित कर नाटककार ने मूल-कथावस्तु की मर्यादा को अक्षुण्ण रखा है। द्रौपदी के उपर्युक्त कारण का उपहास करता दुःशासन उसे अपमानित करता हुआ कहता है -

अधुनैव रजः समागतं किमविज्ञातसमुद्भवे तव।

यदचोलकतैकचेलते तनुमादर्शयितुं त्वयाहिते॥ 4/54

भाषा-शैली

1. विजयिविजयम् का प्रणेता भाषिक संस्कृत की उस प्रौढि से नितान्त परिचित है जो वीर-रसाश्रित नाटकों के लिए अपरिहार्य है। इस क्रम में और विशेषकर वीररस के वर्णन-प्रसंगों में तो कभी-कभी हमारे नाटककार संस्कृत के उन ख्यातनामा महाकवियों और नाटककारों की स्मृति दिला जाते हैं जिनकी भाषा इन क्षेत्रों में मानक बनी हुई है। हाँ इस प्रसंग में यह अवश्य ध्यान देने योग्य है कि ओजस्वी भाषा होने के बावजूद जगन्नाथ की भाषा में वह अर्थ-गाम्भीर्य नहीं। ओजो-गुण समन्वित, गौडी-अनुप्राणित, समासबहुल और विकट पदशय्या-गुम्फित नीचे का वर्णन तब का है जब द्यूत-क्रीडा-भूमि में युधिष्ठिर आ रहे हैं और उनके आगमन की सूचना एक बन्दी नेपथ्य से देता है -

दृप्यत्प्रत्यर्थिपृथ्वीपरिवृढवनितावर्गवेण्यग्रजाग्र-

त्सन्माणिक्यप्रदीपप्रकरपरिशमोदञ्चदुद्दामवातः।

कुप्यत्कालीकरालाननकुहरललल्लोलजिह्वान्ततान्तो

खेलत्खड्गो जगत्यां जयतु जनपतिः पावनेरग्रजन्मा॥

किञ्च

लक्ष्मीलीलोपबर्हे विजयगजपतिव्यायतालानवृक्षे

स्फारक्ष्माभारनित्योद्ग्रहनविकलिता हार्द्रविश्रान्तिद्वन्द्वे।

सेतौ संग्रामसिन्धोर्नृपतिकृतिकरीकारयज्ञस्य यूपो

धार्मे स्थानेऽनुरूपे भजतु तव भुजे स्थैर्यमाकल्पमुर्वी॥4/5-6

वन्दी द्वारा युधिष्ठिर की प्रशंसा समाप्त होने पर दूसरी दिशा से तत्काल सभा-मण्डप की ओर आते दुर्योधन के बन्दी द्वारा उसकी प्रशंसा में पढा गया निम्नलिखित पद्य भी बहुत प्रभावोत्पादक बन पडा है और युधिष्ठिर की प्रशंसा में पढ गए पद्य सी समानता धारित करता है -

गान्धारीगर्भरत्नप्रकटति वियति त्वत्प्रतापानलौघ-

ज्वालालीदह्यमानप्रतिनृपतिपुरग्रामधूमाम्बुवाहे।

हायं हायं पदानि भ्रमदरिसुदृशां हंसकैर्दूरयातं

हृत्क्षेत्रे तापशान्त्योच्छ्वसति च सुहृदां कश्चिदानन्दकन्दः॥

किञ्च

यत्रासादस्तभासां गिरिगहनजुषां विद्विषां व्यस्तयोषा-

योगाग्निं पुष्टमन्तस्तुहिनमहसि यन्मृत्युभाजां ममज्ज।

निर्वाणालातनीलप्रभमिह तनुतेऽद्यापि तल्लक्ष्मलक्ष्मीं

सोऽयं जीव्याज्जगत्यां मनुजशतवृतो धार्तराष्ट्रो नरेन्द्रः॥ 4/7-8

नाटक पर पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव

1. द्वितीय अंक में राजसूय-यज्ञ की समाप्ति के बाद योग्यतम व्यक्ति के अभ्यर्चन का प्रश्न उठता है। भीष्म द्वारा ऋत्विज आदि छः व्यक्तियों या उनमें एकमात्र गुणवान् का अर्चन-परक उपाय देने पर राजा भीष्म से उस एक गुणवान् के विषय में पूछता है -

राजा - तर्हि षड् विहायैकमेव पूज्यतममादिशतु भवान्। सुतानां सन्देहपदे वस्तुनि प्रमाणं पितामह एव। उपर्युक्त वाक्य के अन्तिम अंश पर कालिदास के इस पद्यांश का प्रभाव स्पष्ट अनुभूत किया जा सकता है -

‘सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।’

2. गीतगोविन्दम् के ‘वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्विभ्रते’ पद्य का व्यापक प्रभाव निम्नलिखित पद्य में स्पष्ट किया जा सकता है -

वेदानामवनं जगन्निवहनं भूधारणं दारुणं

दैत्यस्य छलनं बलेर्निवहनं क्षत्रस्य रक्षोन्तनम् ।

येनाधायि पुरा स एव धरणीभारावतारोद्यमी

भूयोऽप्यन्वयमैन्दवं विरचयत्यत्र प्रतिष्ठास्पदम् ॥ 2/57

इसी प्रकार

रे रे वृद्ध! शरदूलन्मतितया नार्हस्युपालम्भनं

किन्त्वालम्भमनाः स्मृतं नहि रुषां त्वं नैस्रगेयाश्रयः।2/67.....

आदि पद्य पर - 'क्षुद्राः सन्त्रासमेते विजहत हरयः क्षुण्णशक्रेभकुम्भाः' पद्य का प्रभाव द्रष्टव्य है। द्यूत-क्रीडा हेतु निमन्त्रित करने जाते विदुर के रथ एवं घोड़ों के वर्णन-क्रम (3/15-16) में अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम अंक का प्रभाव परिलक्षित किया जा सकता है।

4. द्यूत में निमन्त्रित करने आते विदुर की अगुवाई में पाण्डवों और उनके अनुचर राजाओं की विशाल सेना के कारण उठे धूल-समूह का वर्णन करते सूत के कथन (3/27) में 'शिशुपालवधमहाकाव्यम्' के प्रथम सर्ग में आए पद्य 'नवानधोऽधो'...किमित्य....त्याकुलमीक्षितं जनैः' का प्रभाव देखा जा सकता है।
5. तृतीय अंक में विदुर धृतराष्ट्र का सन्देश लेकर युधिष्ठिर से मिलने जाते हैं। मिलने से पूर्व युधिष्ठिर भीम से कहते हैं -

'वत्स ! विनीवेषग्राह्यानि राजशासनानि। तदपनीयतामातपवारणादि।'

नाटककार के इस विचार पर 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के प्रथम अंक में दुष्यन्त की इस उक्ति का अच्छा प्रभाव पड़ा है और नाटककार ने इस विनीत-भाव को एक अन्य किन्तु उपयुक्त स्थल पर प्रस्तुत कर इस मूल्य की अच्छी स्थापना की है -

'सूत ! विनीतवेषेणैव प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम। तद'.....

नाटकीय आलोचना

1. पृष्ठ-68 पर कथावस्तु की प्रवहमान धारा अचानक से द्रौपदी के संवाद और नेपथ्य से प्रसारित दो असम्बद्ध पद्यों (2/30-32) की प्रस्तुति से अवरुद्ध तो होती ही है, स्वयं द्रौपदी की यह उक्ति और नेपथ्य से प्रसारित इन दोनों पद्यों का प्रकृत प्रसंग बिलकुल भी समझ नहीं पड़ता। राजसूय यज्ञ का प्रसंग है और याज्ञिक विधियाँ जोर-शोर से सम्पादित कराई जा रही हैं, इस बीच इस प्रस्तुति का रहस्य विवेचनीय है।
2. पृष्ठ-71 पर कृष्ण द्वारा राजसिंहासन पर राजा को बिठाए जाने पर राजपरिवार द्वारा राजा की की जा रही सेवा की सूचना नेपथ्य से दी जाती है। यह सूचना गद्यात्मक है और कुछ विस्तार को प्राप्त हो गया है जिससे नाटक की धारावाहिकता तो अवरुद्ध हुई ही है, कथा-वस्तु का प्रसार भी कुछ क्षणों के लिए बाधित हो उठा है।

3. पृष्ठ-76 पर राजसूय यज्ञ में किस व्यक्ति को सर्वोच्च आदर दे, उसकी पूजा की जाय? ऐसा वृत्तान्त चल रहा है। कई ऋषि-महर्षियों से पूछने के प्रसंग में राजा याज्ञवल्क्य से भी पूछता है। उसका यह पूछना और याज्ञवल्क्य के कुछ कहने तक नाट्य-निर्देशों का पालन नहीं हो सका है। पाठक सावधान न रहे तो इस प्रसंग को उसे तीन बार पढ़ना पड़ेगा। यहाँ भी - **राजा - (ततः पश्यति याज्ञवल्क्यः)** जैसे वाक्य तो बेसिर-पैर की तरह खटकेगा।
4. राजसूय-यज्ञ-प्रसंग में उपस्थित अभ्यागतों तथा माननीयों के मतानुसार कृष्ण की पूजा की जाती है जिससे चेदिराज शिशुपाल क्रुद्ध हो उठता है और उपस्थित सभासदों सहित युधिष्ठिर एवं बाद में कृष्ण तक को अनुचित वचन सुनाता है। इस क्रम में उसके अनुचित व्यवहार से उद्विग्न सहदेव राजा से कहता है कि वह शिशुपाल को दण्डित करने हेतु उसे अनुमति दें जिस पर राजा उसे शान्त रहने का निर्देश देते हैं। इस पर सहदेव एक पद्य पढ़ता है -

अकीर्त्तिभीत्या बत दुर्मतीनामुदारसत्त्वैः समुपेक्षितानाम्।

ईदृग्विधाः स्वस्मयगौरवेण विकल्थनाः किन्तु समुद्भवन्ति॥2/70

यहाँ तक तो शिशुपाल की उद्दण्डता पर क्रुद्ध हुए सहदेव द्वारा उसे दण्डित करने सम्बन्धी संवादों में वीर-रस का प्रवाह दीख पड़ता है किन्तु उपर्युक्त पद्य के तुरन्त बाद वह राजा के शान्त रहने सम्बन्धी निर्देश पर कहता है - किं करोमि नानुजानाति भवान् तत्तुष्णीमेवास्मि।' (पृष्ठ-78)। सहदेव के इस कथन से वीररस का प्रवाह तो सर्वथा अवरुद्ध हो ही जाता है वाक्य की संरचना स्वयं इतनी शिथिल है कि भाषा-शैली की उदात्तता भी सर्वथा विक्षत (पतत्रकर्ष-दोष) सी प्रतीत होने लगती है।

5. वीररस का उपर्युक्त प्रवाह कृष्ण-पूजन से अतिशय क्रुद्ध हुए स्वयं शिशुपाल के कथन में भी अवरुद्ध सा दीख पड़ता है, जबकि उसके कथन में नाटककार द्वारा क्रोध को पुष्ट करने वाली ओजोगुण समन्वित तथा गौडी-रीति से परिवेष्टित पदशय्या का निर्माण किया जाना चाहिए था। इसके विपरीत कृष्ण को भला-बुरा कहते हुए शिशुपाल का कथन देखिए -

चैद्यः - अहोभाग्यम्। वटवो विक्रमवार्त्ता विरचयन्ति। बालैः समं विवादोऽपि ह्रीकरः। अनेन, रे रे कृष्ण!

त्वमनर्होऽर्हणीयेषु सत्सु राजकुलेष्विह। दत्तं जरद्गवैरर्घं कथमादत्तवानसि॥ 2/71

पद्य का अन्तिम चरण '**अर्घं कथमादत्तवानसि**' तो इतना शिथिल बन पड़ा है कि विश्वास ही नहीं होता कि यह नाटक में शिशुपाल जैसे क्रोधाभिभूत किसी पात्र का अमर्षपूर्ण कथन है।

6. 100 अपराधों को सहन करने के बाद कृष्ण द्वारा शिशुपाल का अकस्मात् वध और इससे पूर्व कृष्ण में वीरोचित वाद-विवाद या संवाद की कमी भी इस सन्दर्भ में बेतरह खटकती है, नाटक की धारावाहिकता ही

एक तरह से मानो अवरुद्ध सी प्रतीत होती है। शिशुपाल से कृष्ण का अन्तिम संवाद, जिसके बाद गोविन्द ने शिशुपाल का वध कर दिया, इतना शिथिल हो गया है कि सारा नाटकीय आनन्द धरा का धरा रह जाएगा—
गोविन्दः - शिशुपाल ! अहो वाऽहमनहो वा पूजितः पाण्डवैरिह। यदि न क्षमते पूजां भवानेतां प्रतीक्षतु॥
(इत्यर्घपात्रं चैद्याभिमुखं क्षिपति) पृष्ठ-79-80

‘शिशुपाल ! मैं योग्य हुआ या नहीं हुआ, पाण्डवों ने मेरी पूजा की मुझे आदर दिया। अब यदि यह आपको यह नहीं जंचता तो भी इसे सहन कीजिए।’

दरअसल, शिशुपाल की ओर कृष्ण द्वारा फेंका गया यह अर्घपात्र ही शिशुपाल के वध का साधन है।

सम्पादकीय आलोचना-अंश

1. इस नाटक और उसके प्रकाशित होने के सन्दर्भ में यहाँ प्रथम ही कह देना उचित होगा कि यह समूचे संस्कृत-साहित्य के इतिहास के लिए सौभाग्य की बात है कि इस प्रकार का कोई दुष्प्राप्य तथा अज्ञात नाटक साहित्य-रसिकों के समक्ष प्रकाश में आया, लेकिन इसका प्रकाशन चूँकि एकमात्र हस्तलिखित प्रति के आधार पर हुआ है अतः प्रकाशित प्रति में अशुद्धियाँ साहित्य-आस्वाद की भावभूमि पर बेतरह खटकती हैं। यहाँ अशुद्धियाँ भी दो रूपों में हैं, प्रथम तो वे अशुद्धियाँ जो हस्तलिखित प्रति से आई हैं और दूसरी वे जो इस प्रकार की किसी चुनौतीपूर्ण प्रथम-प्रकाश्य कृति के सम्पादन में सहज ही आ जाती हैं। कहना नहीं होगा ऐसी अशुद्धियाँ प्रूफ-रीडिंग के सन्दर्भ में रह गई हैं।
2. इन सबके विपरीत सबसे उद्विग्न करने वाली जो बात इस संस्करण में रह गई है वह है रंग-निर्देशों का अभाव, अस्थान में उनका निर्देश और स्थान में इन निर्देशों का अभाव। रंग-निर्देशों के यथास्थान पालित होने से कथावस्तु की धारावाहिकता और नाटकीय संविधान के साथ-साथ पात्रों का अभिनय दुष्प्रभावित होता सा प्रतीत होता है, और ऐसी स्थिति में अचानक से वह स्थल पाठक या भावक को मूल-रस से उच्छिन्न कर देता है। इनके उदाहरण के लिए एक-दो प्रसंग यहाँ प्रस्तुत किए जाते हैं -
 1. राजसूय-यज्ञ की समाप्ति पर विदुर राजा को रत्नयूप देता है जो कि यज्ञ की सफलता का परिसूचक है और राजा को इसे गंगा के तट पर रोपित करना है (*गंगातटे रोपय रत्नयूपम्*)। प्रकाशित प्रति में इस स्थान पर विदुर द्वारा प्रदत्त इस रत्नयूप को राजा ग्रहण करता है किन्तु इसके आगे उसके द्वारा गंगातट पर रोपित करने की जो सूचना है वह स्वयं राजा के मुख से ही कहलायी गई है। जबकि इस सूचना को

नेपथ्य से प्रसारित होना चाहिए, क्योंकि यहाँ इस सूचना की यही प्रकृति है। इसे मूल रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है –

राजा - (तथारचन्) मणिस्तम्भमादाय –

सुरस्रवन्त्याः पुलिनान्तराले मयूखजालेन दिवि स्फुरन्तम्।

स्वनामचिह्नांकितदिव्यरूपं सरत्तयूपं निचखान भूपः॥2/37

- II. यहाँ मूल में 'राजा' के बाद (-) यह चिन्ह चिन्ह प्रकट करता है कि राजा संवाद बोल रहा है जबकि वस्तुस्थिति यह है कि राजा कोई संवाद नहीं बोल रहा अपितु यह नाटकीय वस्तु की सूचना है। इस समूचे वाक्य को ब्रैकेट में ही होना चाहिए था (राजा तथारचन् मणिस्तम्भमादाय)। यहाँ 'तथारचन्' भी अशुद्ध पाठ है 'तथाचरन्' होना चाहिए (पृष्ठ 70)। यही नहीं इसके बाद वाक्य की समाप्ति परक कुछ अंश और होना चाहिए था जो यहाँ नहीं है। सम्भवतः यह मूल पाठ में ही न रहा हो, या हो तो असावधानी से छूट गया हो।
- III. इसी पृष्ठ पर नीचे विविध देशों के राजाओं द्वारा उपहृत वस्त्राभूषण तथा उपानह को पहनते समय और गोविन्द के कथन में पुनः उपर्युक्त प्रकार की ही त्रुटि परिलक्षित होती है।
- IV. पृष्ठ-77 पर भीष्म द्वारा - 'अनर्हमुद्धावयितुं..... त्वद्गिरा हरिमर्चये॥' 2/63 इत्यादि परक वाक्य के बाद हरि-पूजन हेतु (इत्युक्त्वा अर्घमादाय) परक नाट्य-वस्तु की सूचना दी गई है और इसके तुरन्त बाद बिना किसी अन्य रंग-निर्देश के - 'क्षोणीश्वरेषु सकलेषु.... आनर्च शान्तनुसुतः सपृथातनूजः॥' 2/64 परक वृत्त-वस्तु की सूचना प्रसारित कर दी गई है। इस वृत्त-वस्तु की सूचना (नेपथ्ये) आदि रंग-निर्देश के बाद दी जानी चाहिए थी।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

1. झा, रामकिशोर, (सम्पादक), 2007 ई., विजयविजयम्, राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थान (गंगानाथ झा परिसर) इलाहाबाद.
2. दत्त, रामनारायण शास्त्री 'राम', (अनुवादक), संवत् २०६३ विक्रमी, महाभारत (सभापर्व), गीताप्रेस गोरखपुर.
3. माथुर, विजयेन्द्र कुमार, 1990 ई., ऐतिहासिक स्थानावली, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर.
4. वसु, डॉ. नगेन्द्रनाथ, 1928 ई., हिन्दी विश्वकोश (भाग-15), विश्वकोश लेन-बागबाजार, कोलकाता.